



International Journal of Advanced Academic Studies

E-ISSN: 2706-8927

P-ISSN: 2706-8919

www.allstudyjournal.com

IJAAS 2021; 3(3): 81-88

Received: 07-05-2021

Accepted: 09-06-2021

Dr. Sujay Das

Former Ph.D. Research
Scholar, Department of
Sanskrit, Pali & Prakrit,
Visva-Bharati, Santiniketan,
West Bengal, India

वैदिक वाङ्मय में पुरुषार्थ : अर्थ एक प्रधान तत्त्व

Dr. Sujay Das

सारांश

भारतीय संस्कृति के ज्ञान के मूल आधार वेद ही हैं। वेद न केवल भारतीय संस्कृति अपितु विश्व संस्कृति और विश्व-साहित्य के इतिहास में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन विश्व को संस्कृति पाठ पढ़ाने वाले भारतीय आर्यों के रहस्य को वेद ही समझा सकते हैं। यद्यपि ये वेद मुख्य रूप से संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष पर ही प्रकाश डालते हैं लेकिन फिर भी इन ग्रन्थ के माध्यम से संस्कृति के भौतिक पक्ष की कतिपय विशेषताओं पर भी प्रचुर प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ भौतिक पक्ष से तात्पर्य मानव के आर्थिक चिन्तन से है। तत्कालीन समय में भौतिक पक्ष के विकास में अर्थ की महत्त्वपूर्ण योगदान देखकर प्राचीनकालीन अनेक भारतीय शास्त्रकारों ने इसे पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। जिस में अर्थ एक प्रधान तत्त्व के रूप में प्रतिपादित हुआ। अर्थ की विकास में कृषि, पशुपालन और व्यापार का योगदान क्या था, वह वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ही ज्ञात होता है। अतः इस विचार्य विषय का विवेचना यहाँ अति महत्त्वपूर्ण है।

कूट-शब्दों: आर्यविश, कृष्टि, चर्षणि, ईषा, अवट, द्रोण, आहाव, अप्रस्वती, आर्तना, क्षेत्रसाधस, अघ्न्या, प्रपण, मृगयु, श्वनी, शैलूष, कौलाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, ओतु, तसर, मयूख

प्रस्तावना

भारतीय समाज का आर्थिक विकास पुरुषार्थ के जीवन-दर्शन के माध्यम से हुआ है जिस में अर्थ एक प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। वर्णाश्रम धर्म का पुरुषार्थ से अत्यधिक सम्बन्ध रहा है, जो सिद्धान्त में हि नहीं, बल्कि व्यवहार में भी था। वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत रह कर व्यक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता हि था, साथ हि साथ भौतिक आध्यात्मिक उत्कर्ष भी करता था। व्यक्ति की मनःकांक्षा प्रायः अधिकाधिक वस्तुयें प्राप्त करने की होती है, जो अर्थ के सहयोग से पूर्णता प्राप्त करती है। इसीलिये हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ को संयोजन की। मानव की मनोवांछित सामग्री की पूर्ति प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्त्व माना गया है। महाभारत में उच्चतम धर्म मानकर इसकी प्रतिष्ठा और महत्त्व स्वीकार की गयी है। साथ ही इसे त्रिवर्ग के प्रधान आधार तत्त्व के रूप में माना गया है। कौटिल्य और वृहस्पति जैसे प्राचीनकालीन अनेक भारतीय शास्त्रकारों ने मानव के जीवन में अर्थ की आवश्यकता और महत्त्व प्रतिपादित की तथा इसे संसार का मूल माना है। ऐसे लेखकों ने धर्मशास्त्र की भी उपादेयता स्वीकार की है। वस्तुतः धन की अभिव्यंजना सम्पत्ति से ही की गयी है। धन सम्पत्ति का आकलन अर्थ के ही रूप में किया गया है जो मानव की भौतिक उपलब्धि से संयुक्त रही है।

प्राचीन काल में समाज का उत्कर्ष मानव के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता और सुख-सुविधा पर निर्भर करता रहा है।

Corresponding Author:

Dr. Sujay Das

Former Ph.D. Research
Scholar, Department of
Sanskrit, Pali & Prakrit,
Visva-Bharati, Santiniketan,
West Bengal, India

व्यक्ति का भौतिक और लौकिक सुख उसके जीवन के आर्थिक विकास से प्रभावित होता रहा है। यही सही है कि समय-समय पर मानव के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप घटते-बाढ़ते और कभी कभी परिवर्तन भी होते रहे हैं किन्तु आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि, पशुपालन और व्यापार तदवत् रहा है। जिन्हें भारतीय शास्त्रकारों ने वार्ता के अन्तर्गत विवेचित किया है। आज भी विश्व का समाज इन्हीं आधारों पर टिका है। यद्यपि निश्चित स्थितियों के अन्तर्गत कृषक और औद्योगिक वर्ग के सदस्यों द्वारा निश्चित कार्यक्रम की अपेक्षा की जाती रही है। तथापि यह भी सत्य है कि निश्चित परिस्थितियों के कारण उनके कार्यक्रमों में समयानुसार संशोधन और परिवर्तन भी होते रहे हैं। अतः आर्थिक जीवन को उत्प्रेरित करने वाली ये प्रवृत्तियाँ प्रत्येक युग में सहज रूप से स्वभावतः उदभूत होती रही है जो समाज को पुष्ट और स्वस्थ बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती रही है तथा इसमें व्यक्ति और समाज का विकास स्वाभाविक गति से होता रहा है।

आर्थिक कार्यक्रम व्यक्ति का मानवीय सम्बन्ध ही नहीं बल्कि सामाजिक सम्बन्ध भी अभिव्यक्त करता है। वह अपने कार्यों और योजनाओं से अपनी तथा अपने परिवार और अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वांछित वस्तुओं की ग्राह्यता और उसका उपयोग वस्तु के उत्पादन अथवा व्यवस्थित रूप में सुलभता के लिये किये जाने वाले प्रयत्न से सम्बन्ध माना जाता है जो व्यक्ति का मानवीय स्वरूप उद्घाटित करता है। अपने आर्थिक प्रयत्नों और योजनाओं से मानव अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिससे उसका भरण-पोषण होता है। इस प्रकार की प्रक्रियायें संसार के सभी समाज में समान रूप से विकसित हुयीं। परिणामस्वरूप समाज में धनी और निर्धन दो वर्ग बन गये जिनके कारण प्रत्येक समाज प्रभावित होता रहा। कालान्तर में धनी और निर्धन, ये दोनों वर्ग ऊँच और नीच कर्म के रूप में विकसित हुये। समाज में अर्थ यस्य वलं तस्य इस प्रकार ऐसे धनवान उत्पन्न हो गये जो स्वर्ग से पृथ्वी को ढंकने की स्थिति में थे। किन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे भी लोग थे जो तिल और अर्द्ध तिल अर्थात् नून्यतम ही कमा पाते थे तथा किसी प्रकार अपना और अपनी परिवार की पोषण कर पाने में सफल होते थे।

अर्थ के समृद्धि में कृषिकर्म का विकास

भारतीय समाज के आर्थिक जीवन का विकास क्रमशः हुआ। वैदिकयुगीन प्रारम्भिक आर्यों की स्थिति कोई बहुत अधिक सुगठित और सुव्यवस्थित नहीं थी। उस समय लोगों का जीवन आर्थिक दृष्टि से अनुन्नत और विघटित ही

था। पूर्व वैदिकयुग के लोग प्रधान रूप से पशुपालन और कृषि पर ही निर्भर करते थे। वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पर्यटन और यायावरी जीवन में अधिक आस्था रखते थे तथा अपने पशुओं को लेकर वे एक स्थान से दुसरे स्थान का भ्रमण करते थे। उनके यायावर जीवन के लिये पशुपालन ही अधिक युक्तियुक्त था। मुख्यतः पशुचारण पर ही आधारित रही और कृषि का अत्यन्त गौण स्थान रहा। ऋग्वेद में पशुओं की तुलना में खेतों या कृषि के उल्लेख की संख्या अत्यन्त न्यून है। ऋग्वेद के 11 हजार 62 श्लोकों में से कृषि का उल्लेख चौबीस बार हुआ है, जो अधिकांश क्षेपक है।

वैदिक समाज में 'आर्यविश' और 'कृष्टि' दो वर्ग हो गये पहला वर्ग अभिजात वर्ग का था और दूसरा साधारण वर्ग का। बाद में अभिजात वर्ग के अन्तर्गत ब्राह्मण और राज्यन्य आ गये तथा साधारण वर्ग में कृषि, कला, कुसदी और व्यापार का कर्म करने वाले लोग सम्मिलित हो गये। निश्चय ही ये युद्ध आर्थिक अस्तित्व के निमित्त किये गये थे। जिनमें आर्यों को अपना आर्थिक आधार सुदृढ़ करने में सफलता मिली। फलतः आर्य स्थायी निवासी ही नहीं हुये बल्कि जीवन यापन के आर्थिक आधार के भी स्वामी हुये। यहां के मूल निवासीयों से भूमि छीन कर उन्होंने कृषि की ओर अपनी दृष्टि की तथा सर्वप्रथम एक सुव्यवस्थित आर्थिक आधार की नींव रखी एवं पराजित लोगों को दास और दस्यु बना डाला। ऋग्वेद में आर्यों की उपलब्धियों का विवरण है। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति 'ऋ' धातु से हुई है। 'ऋ' धातु से निष्पन्न 'अर्य' शब्द का अर्थ अमरकोश के अनुसार वैश्य है-

ऊख्या ऊरूजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः

ऋग्वेदकालीन अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि, पशुपालन और कतिपय व्यापार पर आधृत थी। 'कृष्टि'² एवं 'चर्षणि'³ शब्दों का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किया गया है। मैकडानल और कीथ⁴ ने कृष्टि को व्यक्तियों का द्योतक माना है और कहा है कि व्यक्तियों का आशय कृषिकर्मा लोगों से हैं। इसी प्रकार चर्षण भी मैकडानल और कीथ⁵ के अनुसार मनुष्यों या लोगों का द्योतक है जिसका आशय 'कृषक जन' माना गया है। उत्तर वैदिकयुग तक आकर आर्य अत्याधिक साधन सम्पन्न हो गये जिससे उनकी

¹ प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ.-325

² ऋग्वेद- 1.52.11, 1.100.10, 1.160.5, 1.189.3, 3.49.1, 4.21.2 आदि

³ ऋग्वेद- 1.86.5, 3.43.2, 4.7.4, 5.32.1 आदि

⁴ Vedic Index, Part-1, Page-203

⁵ Vedic Index, Part-1, Page-289

आर्थिक स्थिति सशक्त और क्रियाशील हुयी। वे अब पशुपालन के साथ साथ कृषि भी करने लगे जिसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। आर्थिक दृष्टि से वे अपने समाज के प्रति अधिक उत्तरदायी हो गये। कृषि से व्यक्ति की पारिवारिक एवं दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर ऋषि कवष ऐलुष द्वारा द्युतकर्म की निन्दा करते हुये कहा गया है-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व
बहुमन्यमानः।

तत्र गावः कितवं तत्र जाया तन्मे वि चष्टे
सवितायामर्यः॥ (ऋग्वेद-10.34.13)

कृषिकार्य को अधिकाधिक उन्नत और सुसम्पन्न करने के लिये उन्होंने अपने समाज की रचनात्मक आधार पर व्यवस्था की। सैकड़ों की संख्या में बन्दी बनाये गये यहाँ के मूल निवासी आर्यों के रक्त के लिये एक बहुत बड़ी समस्या बन गये थे जिसका समाधान उन्होंने वर्ण व्यवस्था की रचना करके किया तथा उन्हें दास अथवा शुद्र के अन्तर्गत गृहीत करके अपनी सेवा में लगा रखा। अतः विजेता के रूप में आर्यों ने अपना विस्तार करके अधिकाधिक लाभ प्राप्त किया और यहाँ के मूल निवासीयों को आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः अपनी इच्छा पर अवलम्बित कर दिया। प्राचीनकाल में अर्थ अथवा धन के उपार्जन से संबंधित कार्य विषय के लिये वार्ता शब्द का व्यवहार किया जाता था। अतः वार्ता शब्द मानव के आर्थिक जीवन के कार्य कलापों से संबंधित था। पूर्व वैदिकयुग में आर्यों कृषि सम्बन्धी ज्ञान बहुत अधिक सुव्यवस्थित नहीं था किन्तु इसके प्रति उनका आकर्षण उत्साहवर्द्धक अवश्य था। आर्यों का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्यों के कल्याणार्थ देवताओं ने सर्वप्रथम कृषिकर्म प्रारम्भ किया था। ऋग्वेद में अश्विनीद्वय को कृषि की जनक माना गया-

यवं वृकेणाश्वना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्राः।

अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरू ज्योतिश्चकथुरार्यायः॥
(ऋग्वेद-1.117.21)

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं यवं वृकेण कर्षथः।

ता वामद्य समतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र
स्तुवीमहि॥ (ऋग्वेद-8.22.6)

इन्द्र, पर्जन्य, वरुण, सविता आदि देवताओं के साथ कृषि से सम्बन्ध स्थापन किया गया है। अपाला ने अपने पिता की खेती की समृद्धि के लिये इन्द्र से प्रार्थना की-

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहया।

शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥

असौ च या न उत्ररादिमां तन्वं मम।

अथो ततस्य यच्छरः सर्वा ता रोमशाकृधि॥ (ऋग्वेद-
8.51.5-6)

कृषिकार्य में ब्राह्मण पुरोहित और क्षत्रियों को कोई योगदान नहीं था। वैश्य वर्ण के लोग कृषिकर्म से सम्बद्ध थे और वे ही इसके विकास में सतत प्रयत्नशील रहते थे। भूमि को वे हल से जोतते थे, जिसे बैल खींचते थे⁶। हल में बंधे मोटे लम्बे बांस को 'ईषा' कहते थे⁷। जिसके ऊपर जुआ (युग) रहता था⁸। हल भारी और बड़ा होता था, इसलिये उसे छः, आठ, बारह या चौबीस बैल खींचते थे⁹। शकट खींचने में भी वे बैल का उपयोग करते थे। खेतों की जुताई के बाद बीज वपन किया जाता था¹⁰। अनन्तर खेतों में अनाज पक जाने के बाद हँसिया(दन्ती) से काटा जाता था¹¹। तदनन्तर अनाजों को बाँधकर खल या खलियान पर रख दिया जाता था, जहाँ अनाजों को पीटा अथवा कुचला जाता था¹²। इसके बाद सूर्प (शूर्प) की सहायता से भूषा उड़ाकर अन्न को अलग कर लिया जाता था, चलनी (तितौ) द्वारा अनाज से भूषा को पृथक करने का कौशल भी जानते थे। आर्य लोग अधिक फसल उगाने के लिये भूमि की सिंचाई भी करते थे इसके लिये कुओं और नहरों का उपयोग करते थे। मनुष्य के काम में आने वाले कुयें 'अवट' तथा पशुओं के काम आने वाले लकड़ी के पात्र चरही (द्रोण आहाव) कहे जाते थे। भूमि को सिंचने के लये वे चक्र द्वारा कुयें से भी पानी खींचते थे¹³। ऋग्वेद में अन्न

⁶ शनं वाहाः शुनम नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।

शुनं वरत्रा बध्यन्त्रां शुनमष्टादिङ्गया॥ (ऋग्वेद-4.57.4)

⁷ ऋग्वेद-3.53.17, 8.5.29, 10.1.35.3, अथर्ववेद-2.8.4, 8.8.23,

मैत्रायणी संहिता-2.7.12, शतपथ ब्राह्मण-1.1.2.12

⁸ ऋग्वेद-1.115.2, 1.184.3, 2.39.4, 3.53.17, 8.80.7, 10.60.8,

10.101.3-4, अथर्ववेद-2.8.4, 3.17.1, तैत्तिरीयसंहिता-5.2.5.5

⁹ षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्धवापृथिवीः षडुर्वीः।(अथर्ववेद-8.9.16)

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचकृषुः।(अथर्ववेद-6.91.1)

षड्गवेन कृषति।(तैत्तिरीयसंहिता-5.2.5.2, काठक संहिता-20.3)

सीरं युनाक्ति। षड्गवं भव।(शतपथ ब्राह्मण-7.2.2.6)

द्वादशगवं सीरं।(तैत्तिरीयसंहिता-1.8.7.1)

द्वादशगवेन कृषति।(तैत्तिरीयसंहिता-5.2.5.2)

द्वादशगवं वा॥(शतपथ ब्राह्मण-7.2.2.6)

सीरं वा द्वादशायोगं।(काठक संहिता-20.3)

सीरं द्वादशायोगं।(मैत्रायणी संहिता-2.6.2)

¹⁰ युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। (ऋग्वेद-
10.101.3)

¹¹ ऋग्वेद-10.101.3, 10.131.2

¹² ऋग्वेद-10.48.7

¹³ ऋग्वेद-7.49.2, 4.57.2, 1.116.9 आदि

के लिये 'यव', 'धाना', 'धान्य' शब्दों का ही उल्लेख किया गया है 14।

ऋग्वैदिक काल में लोग उत्पादनशील उर्वर कृषि-भूमि को 'अप्रस्वती' और अनुपजाऊ कृषि-भूमि को 'आर्तना' कहते थे 15। खेतों को उर्वर बनाने में लोग वंश परम्परा से प्रयत्नशील रहते थे 16। क्योंकि कृषिकर्म लोगों की जीविका का प्रमुख साधन था। अच्छे खेतों के लिए संघर्ष भी होते थे 17। खेतों का मापन भी होता था और इसके लिए बाँस का प्रयोग किया जाता था 18। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि कृषि-भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार था। भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिये वे खाद के रूप में गोबर(करीष) का प्रयोग करते थे 19। ऋग्वेद में उर्वरक के लिए 'क्षेत्रसाधस' शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षेत्रसाधस का अर्थ है- क्षेत्र (खेत) की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने वाला। मन्त्र में कहा गया है कि क्षेत्रसाधस हमें उत्कृष्ट उपज दे-

ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः। (ऋग्वेद-3.8.7)

अथर्ववेद 20 में उल्लिखित है कि पशुओं की प्राकृतिक खाद अधिक मूल्यवान थी। कौटिल्य ने कृषि व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया है तथा कृषि-योग्य भूमि को विस्तृत करने का सुझाव दिया है उसने परती भूमि और वन को भी कृषि-योग्य बनाने की सलाह दी है। उपज में वृद्धि करने के लिये विभिन्न प्रकार के खादों के उपयोग का निर्देश भी उसने दिया है। पशुओं की हड्डी और गोबर की मिली जुली खाद उस समय खेतों में दी जाती थी। कभी-कभी बीज के अंकुरों को पुष्ट करने के लिये ताजी-ताजी मछलियाँ भी खाद के रूप में डाली जाती थीं।

वर्तमान समय में कृषि के अभूतपूर्व उन्नति और अधिक उत्पादन हेतु जिस प्रकार वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जा रहा है, उसी भाँति ऋग्वैदिक काल में कृषि की प्रगति और अधिकाधिक अन्नोत्पादन के लिए मंत्रों एवं यज्ञों का आश्रय लिया जाता था। उस समय लोगों का यह विश्वास था कि मंत्र और यज्ञ द्वारा वर्षा करा देना, खेतों में

भरपूर अन्न उपजा लेना तथा मंत्रशक्ति से कृषि को हानि पहुंचाने वाले चूहा, कीट-पतंगों को नष्ट कर देना सम्भव है 21। आकाश से बिजली गिरने से फसल पर पड़ने वाले हानिकारक प्रभावों को मंत्रों के माध्यम से समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता था 22। उत्तर वैदिककाल तक आर्यों का प्रसार सिन्धु घाटी से लेकर गंगा की घाटी तक हो चुका था। उत्तर भारत का यह प्रदेश अत्यन्त उर्वर और उपजाऊ था तथा कृषि की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त था। ऐसे विशाल और विस्तृत भूभाग में आर्य फैलकर कृषिकार्य में मग्न हो गये थे।

आर्यों के जीवन में कृषि की उपयोगिता और महत्त्व ने इसके दैवी विधान की अवधारणा को जन्म दिया, फलस्वरूप: उत्तर वैदिककाल में अन्न को 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गयी-

स योऽन्नं ब्रह्मत्युपास्ते। (छान्दोग्योपनिषद्-7.9.2)

इस प्रकार अन्न का महत्त्व समाज में ब्रह्म के रूप में माना जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद में उल्लिखित है कि अन्न ही ब्रह्म हैं। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और अन्न से ही सबकी आजीविका चलती है और नष्ट होने के बाद सभी अन्न में मिल जाते हैं तथा अन्ततोगत्वा एकरूप हो जाते हैं। अन्नोत्पादन के लिये तत्कालीन समाज के लोग अधिक जागरूक थे तथा अधिक से अधिक अन्न उत्पादन करने में विश्वास करते थे। इसिलिये उपनिषदों में "अन्नं बहु कुर्वीत" का स्मरण किया जाता था। इसके साथ ही अन्नदात्री धरित्री को माता और स्वयं को धरित्री-पुत्र उद्घोषित करने में गौरवानुभूति की गयी-

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या। (अथर्ववेद-12.1.12)

वैदिक वाङ्मय में अनेक देवियाँ उर्वरा, कृषि, अन्न, धन-धान्य और अनुशासन से सम्बद्ध हैं, इनमें सीता²³, सिनीवाली²⁴, सरस्वती²⁵, अरमति²⁶, अनुमिति²⁷, राका,

¹⁴ ऋग्वेद-1.23.15, 1.17.3, 3.35.8, 2.5.6, 1.16.2, 3.35.3, 3.52.5, 6.29.4, 6.13.4

¹⁵ स हि शर्धो न मारूतं तुविष्वणिप्रस्वतीपर्वरा।

स्विष्ट निरार्तनाष्टेनिः॥ (ऋग्वेद-1.127.6)

¹⁶ असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं ममा।

अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशाकृधि॥ (ऋग्वेद-8.51.6)

¹⁷ ऋग्वेद-4.28.1

¹⁸ क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनं एकं पात्रमृभवो मेहमानम्।

उपस्तुता उपमं नाधमाना अमर्त्येषु श्रवं इच्छमामना॥ ऋग्वेद-1.110.5

¹⁹ अस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः। (अथर्ववेद-3.14.3)

²⁰ करीषिणीम् फलवतीं स्वधाम.....। (अथर्ववेद-19.31.3)

²¹ ऋग्वेद-6.67.30, अथर्ववेद-6.50.1,

स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः। (वाजसनेयी संहिता-3.57)

²² ऋग्वेद-4.57.6-8

²³ ऋग्वेद-4.57.6-7

²⁴ ऋग्वेद-2.32.7, 10.184.2

²⁵ ऋग्वेद-6.61.3-4

²⁶ ऋग्वेद-8.31.12

²⁷ अथर्ववेद-6.11.3,

इडा²⁸ प्रमुख हैं। ऋग्वेद में इन्द्र और सीता कृषिकर्म के देव एवं देवी के रूप में विवृत हैं।

अर्थ के समृद्धि में पशुपालन का विकास

वैदिककालीन आर्थिक विकास पर आलोचनात्मक दृष्टि से पशुपालन का महत्वपूर्ण स्थान था। इसका सम्बन्ध गाँवों से था, जहाँ पर उनका विकास किया जाता था। पशुओं में बैल, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी और गाधा पालते²⁹। वैदिक काल से ही गाय के उपकार को समझ कर उसे पूजन किया जाता था। ऋषियों ने उसे “अघ्न्या हि गोः”³⁰ कह कर सम्बोधित किया। गाय पालना आर्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। उन्हें धन के रूप में माना जाता था। आर्यों के लिए गाय एक विशेष सम्पत्ति थीं। ऋग्वेद में गाय प्राप्ति की इच्छा दर्शाई गई है-

पूषन्ननु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वतः अस्माकं
स्तुवतामुत। (ऋग्वेद-6.54.6)

पालतू पशुओं की सुरक्षा के लिये वे कुत्तों का उपयोग करते थे। गाय आदि पशु ‘गोष्ठ’ नामक स्थान में चरते थे जिनकी देख-रेख गोपाल करते थे³¹। गोपाल अपने अंकुश द्वारा पशुओं को असुरक्षित होने से बचा लेते थे। उस युग में गाय, घोड़े और अच्छे पुत्र धन सम्पत्ति के रूप में माने जाते थे। गाय क्रय-विक्रय में माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती थी। एक मन्त्र में कहा गया है कि मेरे द्वारा इन्द्र को दश गायों से कौन खरीद सकता है³²। ब्राह्मण पुरोहितों को वह प्रायः दक्षिणा में प्रदान की जाती थी। यही नहीं बैल, गाय के चर्म के आच्छान, थैले आदि भी निर्मित किये जाते थे। गोबर से उपली बनाई जाती थी। उत्तर वैदिक काल तक आकर उनकी कृषि व्यवस्था सुदृढ़ हो चुकी थी। वे कृषि के निमित्त बैल, गाय आदि पशुओं का उपयोग करते थे।

उपरोक्त तथ्य से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में पशुपालन का भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान था। गायों व बैलों द्वारा कृषिप्रधान भारत वैदिक युग में आश्चर्यजनक विकास कर सका, भेड़, बकरी आदि के व्यवसाय का विकास कर अर्ध सभ्य व पहाड़ी जातियाँ अपना उदर पूर्ति करती थीं। इन सब पशुओं में घोड़ा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने आर्यों के

सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यातायात की व्यवस्था में भी इन पशुओं का विशेष स्थान था। वैदिक आर्यों अपने पशुओं का भी विशेष ध्यान रखते थे। वह लोग प्रार्थना करते थे कि-

द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्॥ (ऋग्वेद-
10.97.20)

अर्थात् हमारे द्विपद (मनुष्य) व चतुष्पद (पशु, चौपाये) आदि सब रोगरहित रहें।

अर्थ के समृद्धि में व्यापार-वाणिज्यों का विकास

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त वैदिक काल में समान्तराल विकास का एक और साधन था, जिसे व्यापार तथा वाणिज्य कहा जाता था। कृषि, पशुपालन आदि का सम्बन्ध देहातों से था, जो कि प्राचीन काल में आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिकांश देहातों में उत्पन्न की जाती थीं। वर्तमान काल की भाँति प्राचीन काल में बड़े-बड़े यन्त्र नहीं थे, जिनके लिए बड़े-बड़े नगरों की आवश्यकता होती। परन्तु राजकीय, आर्थिक और धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र अवश्य थे, जो विकसित होकर नगर बन गये। ‘सुवर्ण’³³ शब्द की उल्लेख से संकेत मिलता है कि तत्कालीन समय में लोगों में धनपति बनने की इच्छा थीं-

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम परयो
रयीणाम्॥ (ऋग्वेद-10.121.10)

यजुर्वेद में विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है, जो व्यापार-वाणिज्य से भी होता था³⁴। ‘वाणिज्य’ शब्द ‘वणिक’ शब्द से बनता है, जिसका अर्थ होता है बनिया या व्यापारी। यजुर्वेद³⁵ में वाणिज्य को तुला से सम्बन्धित किया गया है। अथर्ववेद में वाणिज्य के विकास का उल्लेख अप्रत्यक्षरूप से प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि मैं वणिक (व्यापारी) इन्द्र को प्रेरित करता हूँ। उसकी कृपा से ये पुर (नगर) हमें प्राप्त होंगे। वह हमारे शत्रुओं को मार कर मुझे धन प्रदान करे। द्यावापृथिवी के मध्य देवताओं के विचरण करने के लिये जो बहुत से मार्ग हैं, वे मेरे लिये दूध व घी से युक्त हो जावें, जिससे उन्हें खरीद कर धन

²⁸ ऋग्वेद-8.31.12

²⁹ यजुर्वेद-30.11, ऋग्वेद-1.163.9

³⁰ ऋग्वेद-1.164.27, 40, 4.1.6, 5.83.8, 8.69.21, 10.87.16

³¹ ऋग्वेद-1.169.1-4

³² या नस्तोके...हवामहे (ऋग्वेद-1.114.8)

³³ ऋग्वेद-1.43.5, 3.34.9, 4.10.6, 4.17.11, 1.117.5, 6.47.23, 878.9

³⁴ यजुर्वेद-30.6,7,11,17,20

³⁵ तुलाये वाणिजं...। (यजुर्वेद-30.17), इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि। (अथर्ववेद-10.75.8)

प्राप्त करूँ³⁶। इस प्रकार वैदिक युग में व्यापार का प्रारम्भ हो गया था। अतएव इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि भारत के व्यापारिक और व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक युग से ही होता है। कृषि से उत्पन्न आनाज, घी, दूध, वस्त्र तथा दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था।

वैदिककालीन समाज आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्धशाली था, वह चित्रण वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ही ज्ञात हो जाता है। ऋग्वेद में सिन्धु नदी की आर्थिक समृद्धि का सुन्दर चित्रण किया गया है। सिन्धु नदी अश्व, रथ, वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण, अन्न, ऊन आदि से परिपूर्ण रहती है तथा मधुयुक्त पुष्पों को धारण करती है। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सिन्धु नदी के प्रदेश में उत्तम घोड़े, मवेशी रथ आदि थे। वैदिक काल में आभ्यन्तरिक व्यापार का संकेत मिलता है³⁷। इस व्यापार का तात्पर्य है, जो तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के मध्य होता था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात है कि खेती की उपज और व्यापार तथा वाणिज्य द्वारा उत्पादित वस्तुएँ आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती थीं। यह कार्य व्यापारियों ने करत था। व्यावसायिक माल ढोने के लिये बैल, घोड़े, ऊँट, कुत्ते तथा गधों का उपयोग करते थे³⁸। नगर में स्थायी रूप से बड़े बड़े बाजारों में स्थायी व्यापारी भी रहते थे, जिन्हें अथर्ववेद में प्रपण³⁹ कहा गया है। वैदिक साहित्य में यत्र तत्र क्रय-विक्रय का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि एक व्यक्ति को बहुमूल्य वस्तु के लिये कम किमत प्राप्त हुई⁴⁰। वैदिककाल में इन्द्रादि देवताओं की मूर्तियों का विक्रय होता था और लोग उन्हें खरीदते थे-

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।

यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत्॥ (ऋग्वेद-4.24.10)

मैकडानल और कीथ इसको क्रय का स्पष्ट उदाहरण मानते हैं। इस सम्बन्ध में सायण ने जो कुछ कहा है वही उपादेय प्रतीत होता है। उस समय यज्ञ में सोम रस की आहुति दी जाती थीं और अन्तिम में सोमरस को दूध के साथ मिला कर पिया जाता था। यह पौधा काश्मीर के पर्वतीय प्रदेश में ऊगता था। वहाँ के लोग उसे आर्यों को बेचते थे।

साधारणतया सोम पौधे को गायेँ लेकर बेचा जाता था⁴¹। इससे प्रमाणित होता है कि तत्कालिन समय में सोम पौधे का व्यापार पूर्णतया विकसित था और व बेचनेवाले बहुत अधिक मूल्य वसूल करते थे।

वैदिक युग में आभ्यन्तरिक व्यापार के साथ-साथ बाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों (जहाजों) का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है⁴²। एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस जहाज में बैठ कर समुद्र में रास्ता भूलने वाला भुज्यु नाम का एक नाविक को अश्विनद्वय ने उद्धार किया⁴³। कुछ लोगों ने धन प्राप्त करने की इच्छा से अपने जहाजों को समुद्र में भेजते थे⁴⁴। विभिन्न द्रव्य-लाभ की इच्छा से भी बहुत से व्यापारी जहाजों में एक साथ समुद्र यात्रा करते थे⁴⁵। इस यात्रा प्रारम्भ करने के पहले वह लोग देवताओं की स्तुति किया करते थे⁴⁶। ऋग्वेद में उल्लेख है कि समुद्र का स्वामी वरुण जहाजों के मार्गों व वायु के मार्गों को जानता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद कालीन आर्यों समुद्र से पूर्णतया परिचित थे व उनके व्यापारी विदेशों में व्यापार करने के लिये समुद्रयात्रा करते थे।

प्राचीन भारत में अर्थ की श्रीवृद्धि के लिये तथा आर्थिक विकास में विभिन्न उद्योग-धन्दों का भी विशिष्ट स्थान था। वैदिक काल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्दा सूक काटना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद⁴⁷ में कपड़ा बुननेवाले को 'वय' कहा गया है। ऋग्वेद में प्राप्त 'तन्तु', 'तन्तु', 'ओतु', 'तसर', 'मयूख' आदि शब्द बुनने का कला से सम्बन्धित थे⁴⁸। चमड़े से विभिन्न वस्तुओं को बनाने का उद्योग भी विकसित हुआ था⁴⁹। बैल के चमड़े से धनुष की रस्सी, रथ को बाँधने की रस्सी, घोड़े की लगाम की रस्सी, कोड़े की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं⁵⁰। थैलियाँ बनाने भी बैल के चमड़े का उपयोग करता था⁵¹। यजुर्वेद⁵² में वैदिक काल के विभिन्न उद्योग-धन्दों को

⁴¹ ऋग्वेद-8.32.20

⁴² वेद नावः समुद्रियः (ऋग्वेद-1.25.7), 1.48.3, 1.56.2, 1.116.3, 2.48.3, 7.88.34

⁴³ यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ (ऋग्वेद-1.116.5) 1.116.3,4

⁴⁴ ऋग्वेद-1.48.3

⁴⁵ ऋग्वेद-1.56.2

⁴⁶ ऋग्वेद-4.55.6

⁴⁷ ऋग्वेद-2.3.6

⁴⁸ नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः। (ऋग्वेद-6.9.2,3), ऋग्वेद-10.71.9, 7.9.3, 10.26.6

⁴⁹ ऋग्वेद-8.5.38

⁵⁰ ऋग्वेद-6.75.11, 1.121.9, 6.47.26, 6.46.14, 6.53.9

⁵¹ ऋग्वेद-10.106.10

⁵² यजुर्वेद-30. 6, 7, 11, 17, 20

³⁶ अथर्ववेद- 3.15.1-8

³⁷ ऋग्वेद-8.46.30

³⁸ ऋग्वेद-8.46.3,28, 8.12.8, 9.33.1

³⁹ येन धनेन प्रपणं चरामि (अथर्ववेद-3.15.5)

⁴⁰ ऋग्वेद-4.24.9

करनेवालों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इन उद्योग-धन्धों को निम्नाङ्कित विभागों में विभिजित किया जा सकता है-

- क. मणिकार, हिरण्यकार, रथकार, हस्तिप और अश्वप।
- ख. गोपाल, ग्वाली, तक्षा, धनुष्कार, इषुकार, ज्याकार, भिषक और कर्मार।
- ग. सूत, शैलूष, कौलाल, अविपाल, अजपाल और सुराकार।
- घ. रज्जु-सर्ज, मृगयु और श्वनी।

उपरोक्त चार विभागों में समाज के चार वर्ग प्रतिबिम्बित हो ते है, जैसे-

1. अत्यन्त धनाढ्य वर्ग
2. उच्च मध्यम वर्ग
3. साधारण मध्यम वर्ग
4. अर्धसभ्य ग्रामीणों का वर्ग

इस प्रकार यजुर्वेद में उल्लिखित विभिन्न उद्योग-धन्धे वैदिक काल के समाज के आर्थिक ढाँचे का सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित करते हैं, जिसके आलोचनात्मक अध्ययन से हम वैदिक कालीन आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को भली-भाँति समझ सकते हैं।

निष्कर्ष

वैदिक युग का आर्थिक विकास सांस्कृतिक विकासरूपी शृङ्खला की एक कड़ी मात्र था। जीवन के चार महान् उद्देशों अर्थात् चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में अर्थ भी एक था। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अर्थ ही सब कुछ नहीं था। अर्थ का विकास धर्म की भूमिका पर किया जाता था। वैदिक कालीन आर्यों की जीवन के प्रति धार्मिक तथा दार्शनिक वृत्ति रहने के कारण उन्होंने अपने आर्थिक विकास पर धर्म का नियन्त्रण रखा था, जिसके कारण स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि पनपने नहीं पाते थे। वैदिक कालीन आर्थिक विकास मानव को जीवन के अन्तिम ध्येय मोक्ष की ओर ले जाता था। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के सुन्दर सामञ्जस्य द्वारा यह सब सिद्ध किया जाता था।

तैत्तिरीय उपनिषद में कृषि की महत्त्व का यो वर्णना मिलता है वो स्पष्ट रूप से वैदिक कालीन कृषि महत्त्व को दर्शाता है, जहाँ अन्न को ही ब्रह्म कहा गया है। इसी से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। ऋग्वेद में कृषि की समृद्धि के लिए अनेक प्रार्थनाएं की गयी है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि बहुत अन्न उत्पादन करना ही हमारा व्रत होना चाहिए। आर्यजन का प्रार्थना है कि उनके खेत सुफल

बने और उसमें उसी प्रकार धन-धान्य का प्रवाह बना रहे। ऋग्वेद में क्षेत्रपति देवता की स्तुति कृषि की महत्त्व को ही प्रदर्शित करता है। यह समाज कृषक समाज था, जो उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता था। अतएव वैदिक काल में विकसित कृषि, विविध अन्नों के उत्पादन, कृषि यंत्रों और कृषि विधियों के संज्ञान से स्पष्ट है कि- इस काल में कृषि समुन्नत थी। जो हमारी अर्थव्यवस्था की प्रमुख आधारशिला एवं भौतिक आवश्यकता है। इसीलिये वैदिक युग में आर्थिक व्यवस्था में कृषि का प्रमुख स्थान था। ऋग्वेद में इन्द्र को वर्षा का देवता माना गया है, तथा इन्द्र-वृत्र युद्ध द्वारा वर्षा का महत्त्व समझाया गया है। वैदिक कालीन आर्थिक विकास पर आलोचनात्मक दृष्टि से पशुपालन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका का सम्बन्ध गाँवों से था। उस युग में गाय, घोड़े और अच्छे पुत्र धन सम्पत्ति के रूप में मानना एक धार्मिक पक्ष को प्रदर्शित करता है। आर्थिक विकास में कृषि एवं पशुपालन की भाँती व्यापार तथा वाणिज्य, उद्योग-धन्धे का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। इस विकास में ग्रामीण व नागरिक जीवन के मध्य भी सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया था। वैदिक ग्राम उत्पादन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। वास्तव में इस काल में कृषि, पशुपालन और व्यापार के महत्त्व में वृद्धि का एक विशेष कारण जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होना था जिसके कारण उपरोक्त सभी आर्थिक स्रोतों का महत्त्व भी बढ़ता गया। यही कारण है कि आर्यों के जीवन में कृषि, पशुपालन और व्यापार की उपयोगिता एवम महत्ता ने इसके दैवी विधान की अवधारणा को जन्म दिया। परिणामतः उत्तर वैदिक काल में अन्नदात्री धरणी को माता और पुत्र को धरा-पुत्र उद्घोषित करने में गौरवानुभूति की गयी।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद : सायण भाष्य सहित, सम्पा. प. रामस्वरूप शर्मा गौड़, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2003।
2. सुबोध भाष्य, पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला-पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 1990।
3. अर्थशास्त्र : कौटिल्यकृत, हिन्दी अनु. वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2006।
4. ऋग्वेद : सायण भाष्य सहित, अनु. प. रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2007।
5. सुबोध भाष्य, पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला-पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 2000।

6. स्वामी दयानन्द सरस्वती भाष्य, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, आजमेरा।
7. काठक संहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला- पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 1983।
8. छान्दोग्य उपनिषद् : भाष्यकार पं. शिवशंकर शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक, 2000।
9. तैत्तिरीय संहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला-पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 1983।
10. वाजसनेयी संहिता : (माध्यन्दिन शाखा), हिन्दी अनु. डॉ. रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2007।
11. मैत्रायणी संहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला-पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 1983।
12. शतपथ ब्राह्मण : हिन्दी अनु. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 2010।
13. वैदिक इण्डेक्स : मैकडॉनल एवं कीथ (हिन्दी अनु. रामकुमार राय), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1962।
14. यजुर्वेद : सुबोध भाष्य, पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला-पारडी, जिला-बलसाड, गुजरात, 2010।
15. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1991।
16. गुप्ता, देवेन्द्र कुमार, वैदिक कृषि-विज्ञान, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2012।
17. पाण्डेय अजय कुमार, प्राचीन भारत में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2008।
18. राव, राजवन्त एवं उपाध्याय, ओम जी, भारत में कृषि एवं कृषक समुदाय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2010।
19. ज्ञानी, शिवदत्त, वेदकालीन समाज, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1967।